# नाटक का रंगमंच और रंगमंच का नाटक

*डॉ० मधु कौशिक,*

*हिंदी–विभाग, रामानुजन कॉलेज,*
*दिल्ली विश्वविद्यालय*

- रंगमंच अपने समय के समूचे विचार और समस्त कला–रूपों को आत्मसात कर अपना स्वतंत्र रूप रचता है।
- .बदलते हुए उत्तर–आधुनिक परिदृश्य में परिवर्तन और निरंतरता पर हमारी संतुलित दृष्टि बनी रहनी चाहिए।
- रंग–परंपरा हमसे छूटनी नहीं चाहिए।

उपर्युक्त वाक्य 'नाटक का रंगमंच और रंगमच का नाटक' विषय की परतों को सिलसिलेवार तरीके से खोलने में हमारे सहयोगी साबित हो सकते हैं। हिंदी जगत के रंग–कर्म को अपनी दिशाएँ ढूँढने का अवसर और उसके विकास का रास्ता साफ़ करने का काम नाटक और रंगमंच दोनों ने बखूबी किया है। यदि रंगमंच के विकास पर दृष्टिपात किया जाए तो पहले नाटक आदि दृश्य काव्य रचे गए, तब उनका अभिनय करने के लिए सुविधानुसार रंगमंच का निर्माण हुआ। जयशंकर प्रसाद जी इतिहास के इसी साक्ष्य को आधार और प्रमाण मानते हैं। प्रसाद जी के शब्दों में– "प्रत्येक काल में काव्य अथवा नाटक के लिए ही रंगमंच होते हैं, न कि रंगमंच के लिए नाटक और काव्य। ..... रंगमंच के संबंध में यह भारी भ्रम है कि नाटक रंगमंच के लिए लिखे जाते हैं। प्रयत्न तो यह होना चाहिए कि नाटक के लिए रंगमंच हो।"[१]

प्रसाद जी के अनुसार नाटककार रंगमंच को ध्यान में रखकर नाटक की रचना नहीं करता। वह तो कथानक को ध्यान में रखकर नाटक लिख देता है। इसके बाद रंगमंच–व्यवस्थापक और नाट्य प्रयोक्ता का काम है कि उस नाटक का सफल अभिनय करने के लिए उपयुक्त रंगमंच का निर्माण करें। अतः उपर्युक्त विषय पर विस्तार से जानने के लिए नाटक और रंगमंच के इतिहास पर दृष्टि डालना आवश्यक है। यदि हम मध्यकाल की बात करें तो उस समय नाटक को प्रोत्साहन नहीं मिला, दूसरी ओर इस काल में राजाओं का आश्रय समाप्त हो जाने से रंगमंच की सुव्यवस्था जाती रही और जनता अपने मनोरंजन के लिए खुले मैदान में 'स्वांग' आदि के रूप में नाटक खेलने लगी। ऐसे समय में जनता ने 'रामलीला' और 'रासलीला' आदि का आश्रय लेकर अपना मनोरंजन किया। इस प्रकार 'रामलीला' और 'रासलीला' के रंगमंच का इतिहास काफ़ी पुराना है। भक्तिकाव्य जब अपने चरम पर था तब उसी समय हिंदी नाट्य रचना और रंगमंच का भी सुनहला प्रभात था। दोनों को ही वैष्णव आंदोलन से प्रेरणा मिली, जिसने १३ वीं शती से लेकर तीन शतियों तक उत्तर भारत को अभिसिंचित किया।

मध्यकाल में भक्तिभाव को जागृत करने के लिए भगवान की लीलाओं का नाटकीय प्रदर्शन अत्यंत सफल और आकर्षक साधन सिद्ध हुआ। इस प्रकार के नवीन रंगमंच के लिए देशी भाषाओं में भी नाटकों की मांग होने लगी। इसके फलस्वरूप अनेक देशी भाषाओं में भक्त वत्सल भगवान की लीलाओं का प्रदर्शन होने लगा। उत्तरी भारत के पश्चिमी भाग में ब्रजभाषा, मध्य में अवधी और पूर्व में मैथिली भाषाओं में लीलाएँ प्रदर्शित की जाने लगीं। इस रंगमंच के दो क्षेत्र थे – मंदिर और राजभवन। वैष्णव रंगमंच की

पश्चिमी शाखा का विकास मंदिरों आदि धार्मिक स्थानों में हुआ और पूर्वी शाखा का विकास राजभवन और दरबारों में हुआ। इस प्रकार लोकमंच की परंपरा को कायम रखने में 'रामलीला' और 'रासलीला' ने अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। 'रामलीला' के रंगमंच का आधार जहाँ 'रामचरितमानस' के संवाद रहे वहीं 'रासलीला' ने भी अपने लिए 'सूरसागर' से संवाद ग्रहण किए। इस प्रकार रामलीला और रासलीला में रंगमंच का साहित्यिक रूप सुरक्षित रहा। 'रासलीला' और 'रामलीला' आदि के लिए किसी विशेष रंगमच की व्यवस्था नहीं होती थी, खुले मैदान में ही अभिनय होता था। पात्रों की सजावट की व्यवस्था होती थी और साथ ही व्यक्तिगत एवं सामूहिक नृत्य का आयोजन होता था। पात्रों को अभिनय की शिक्षा भी नहीं दी जाती थी। निर्देशक जनता के सामने ही अभिनेताओं को बताता चलता था। दर्शकों के मनोरंजन के लिए साधारण ढ़ंग के परिहास प्रस्तुत किए जाते थे। अंग्रेजों के आगमन के बाद ही आधुनिक रंगमंच की उत्पत्ति हुई। सन् १७४७ ई॰ में कलकत्ता के फोर्ट में रंगमंच की स्थापना की गई और १७७५ ई॰ में उसका पुनर्निर्माण हुआ। किन्तु इस पर केवल अँग्रेजी नाटक ही अभिनीत किए जाते थे। इसके बाद धीरे–धीरे नाटक कंपनियाँ बनने लगीं और 'पारसी' रंगमंच का विकास हुआ। पारसी रंगमंच का उद्देश्य केवल पैसा कमाना और जनता को आकर्षित और उत्तेजित करना था। इसलिए नाटक की कथावस्तु से उनका कोई लेना–देना नहीं था। दृश्य की सजावट करना और चमत्कारपूर्ण दृश्य दिखाना यही इनका लक्ष्य था। 'पारसी रंगमंच' ने जीवन के विराट एवं मार्मिक सत्य को उजागर करने के स्थान पर अस्वाभाविकता को अपने रंगमंच का आधार बनाया जिसका परिणाम यह हुआ कि 'पारसी' रंगमंच सदा के लिए मिट गया। पारसी रंगमंच हमारी संस्कृति के लिए घातक साबित हो रहा था। भारतेन्दु जी ने 'नाटक' निबंध में लिखा है– "काशी में पारसी नाटक वालों ने नाचघर में जब शकुंतला नाटक खेला और उसमें धीरोदात्त नायक दुष्यंत खेमटेवालियों की तरह कमर पर हाथ रखकर, मटक–मटक कर नाचने और 'पतली कमर बलखाय' यह गाने लगा....., तब प्रभूति विद्वान यह कहकर उठ गए कि अब देखा नहीं जाता।" इसी कड़ी में उत्तर भारत के कई भागों में 'नौटंकी' का प्रवेश हुआ। इसके 'वार्तालाप' और 'गीत' अत्यंत अश्लील और भद्दे किस्म के होते थे। ऐसे में किसी पठनीय नाटक का अभिनय इसमें नहीं हो सकता था।

19 वीं शती में भारतेन्दु जी के नेतृत्व में हिन्दी रंगमंच का पुनर्गठन हुआ। इन्होंने अव्यावसायिक रंगमंच का सूत्रपात किया तथा हिन्दी और उत्तर भारत को यह उनकी अनूठी और अमूल्य देन रही। भारतेन्दु जी ने अव्यावसायिक नाटक–मंडलियों की भी स्थापना की। 'हिंदी नाट्य समिति', 'भारतेन्दु नाटक मंडली' और 'हिंदी–नाट्य–परिषद' जैसी कई अव्यावसायिक नाटक मंडलियों का निर्माण उस समय हुआ। इन नाटक मंडलियों में प्रदर्शित होने वाले नाटक व्यावसायिक पारसी रंगमंच से अलग थे। इनमें भाषा की शुद्धता और आदर्शोन्मुखता पर अधिक बल था। 1935 तक आते–आते कई नाटक मंडलियाँ स्थापित हो गईं जिनमें 'अमेचर ड्रामेटिक एसोसिएशन', 'नटवर' आदि का नाम उल्लेखनीय है। देश का युवा छात्र इन मंडलियों से जुडने लगा। 1935 के बाद हिंदी रंगमंच के इतिहास में दो दिशाओं में विकास हुआ । एक तो भारतेन्दु जी ने जिस अव्यावसायिक रंगमंच की स्थापना की थी, उसका संबंध साहित्यिक नाटक से एकांकियों के माध्यम से फिर स्थापित हो गया। दूसरा महत्त्वपूर्ण यह है कि उस समय प्रख्यात कलाकार श्री पृथ्वीराजकपूर ने आर्थिक घाटा सहकर भी एक व्यावसायिक रंगमंच की स्थापना की। किन्तु बहुत दिनों तक वह चल नहीं सका। यदि हम नाटक और रंगमंच के भविष्य के निर्माण की बात करें, तो न हम इतिहास और

परंपरा की उपेक्षा कर सकते हैं और न ही एक प्रकार का रंगमंच सभी स्थानों के लिए उपयुक्त हो सकता है। इस प्रकार रंगमंच और नाट्य रचना की शैली के अनेक रूप संभव है।

यदि भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' के चिंतन के सार रूप को देखें तो उसका सरोकार अभिनेता, अभिनेता की कला, प्रशिक्षण और मुख्य रूप से जो नाट्य की रचना है, पाठ है या टेक्स्ट है, उसका रूपान्तरण है। पश्चिमी परंपरा में पिछले पचास वर्षों से 'परफ़ार्मेंस टेक्स्ट' और 'ड्रामेटिक टेक्स्ट' जैसे शब्दों का प्रचलन बढ़ा है, जबकि हमारे यहाँ आरंभ से ही 'नाटक' है तो 'नाट्य–प्रयोग' भी। आज जब नाटक के साहित्यिक गुणों की चर्चा होती है तो हमारा दृष्टिकोण संकुचित हो जाता है। हम केवल नाटक में निहित गंभीर विचार और भाषा की बात कर अपने कर्तव्य की इति श्री समझ लेते हैं जबकि हमें उसकी दृश्य योजना, पात्रों की कल्पना, पात्रों की जीवंतता स्थितियों की नाट्य प्रवणता सभी पर गंभीरता से विचार करना चाहिए । नाटक की जो अनिवार्यता है, रंगमंच सापेक्षता, प्रदर्शन सापेक्षता नियति है उसकी। उसी में उसकी पूर्णता है। रंगमंच के संबंध में सेठ गोविंददास जी का मत है – "जो नाटक पढ़ने योग्य होते हुए खेलें जा सकें और साथ ही साहित्यिक दृष्टि से उच्चकोटि के हों, वे अधिक अच्छे हैं, इसमें मतभेद नहीं हो सकता। ऐसे नाटक लिखने के लिए नाटककार को लिखने की विधि के साथ ही रंगमंच संबंधी विधि की ओर भी लक्ष्य रखना आवश्यक है। रंगमंच संबंधी बातों में नाटककार को दृश्यों की व्यवस्था, पात्रों की वेशभूषा, तथा पात्रों के प्रवेश, प्रस्थान आदि बातों पर विशेष ध्यान रखना चाहिए ।"[२]

यदि नाटक के रंगमंच की बात की जाए तो कृष्ण बलदेव वैद जी के विचार में – "टेक्स्ट करें या पाठ के रूप में करें दरअसल जिस बिन्दु पर मैं केन्द्रित होना चाहता हूँ, वह यह कि उस मूल पाठ से मुक्ति क्या संभव है ?..... मूल पाठ और प्रस्तुति का संबंध क्या है ?.....भरतमुनि ने चार – पाठ, संगीत, अभिनय, रस – अब हर नाटक में संगीत का होना जरूरी नहीं है तो तीनों को ही लें.....तो उन तीनों का महत्त्व एक–सा है । सबसे पहला सवाल यह है कि मूल पाठ की कोई अपनी सत्ता है कि नहीं ? उसको जड़ कह के रद्द कर देना, उसका निषेध कर देना मैं समझता हूँ गलत है। मूल पाठ जो है वो शब्दाश्रित होगा । उसमें शब्द प्रधान होगा। लेकिन रंग–निर्देशों के सहारे, अपनी कल्पना के सहारे हम उसको पढ़ के, शेक्सपीयर की मिसाल लें, आजकल भी उसका आस्वाद ले सकते हैं। पूरा न सही किसी हद तक–उस हद तक जिस हद तक हम अपनी कल्पना को एक नाटकीय तरीके से इस्तेमाल करें। मेलोड्रामेटिक तरीके से, थिएट्रिकल तरीके से। मैं समझता हूँ रचना की मूल पाठ सत्ता तो मेरे जहन में है और यह भी बात कि उस सत्ता के विरोध बहुत हुए हैं।"[3] नाटक और रंगमंच के संबंध में कई प्रयोग हुए, जिसमें टेक्स्ट की कोई बहुत ज़्यादा गुंजाइश नहीं थी। इंप्रोवाइजेशन कीजिए, ग्रुप थिएटर कीजिए, ग्रुप में कोई चार–पाँच लोग मिलकर एक टेक्स्ट बना लें काम चलाऊ, उनकी गुंजाइश प्रयोग के तौर पर है। उनका असर दूसरे नाटकों पर भी पड़ेगा। लेकिन कुछ नाटक अब भी लिखे जा रहे हैं, और कुछ पुराने जमाने में भी लिखे गए जिन्हें हम बार–बार मंचित करते हैं, जिनमें अनिवार्य तौर पर टेक्स्ट ही प्रधान होता है। अतः टेक्स्ट अनिवार्य है। शेक्स्पीयर के नाटकों को मंचित करते समय क्या उसकी पोएट्री, उसके शब्द–प्रयोग, उसकी नज़्म से बच सकते हैं ? आवश्यकता इस बात की है कि चाहे कालिदास हो या शेक्सपीयर इनके नाटकों का मंचन करते समय रंगकर्मी को इनके मर्म को पहचान कर थिएटर की भाषा में उसका अनुवाद करें न कि उसे तोड़–मरोड़कर प्रस्तुत करें।

रंगमंच के नाटक के विषय में कहा जाता है कि इसके टेक्स्ट की प्रकृति रचनात्मक एवं सर्जनात्मक होती है। इसलिए रंगमंच के नाटक का एक निश्चित टेक्स्ट नहीं होता। यदि इप्टा के आरंभिक काल की बात की जाए तो उस जमाने में टेक्स्ट हुआ ही नहीं करता था। केवल खेल–खेल में ही नाटक हुआ करता था। इसलिए बहुत से नाटकों का टेक्स्ट आज उपलब्ध नहीं है। कई बार मंच पर ही टेक्स्ट बनता था, बदलता था, क्रिएट होता था । रंगमंच का नाटक सतत कुछ नया रचता है उसमें बनने और कुछ नया जुडने की संभावनाएं बनी रहती है। चाहे शेक्सपीयर, इब्सन और चेखव हों या भारतेन्दु जी, जयशंकर प्रसाद, मोहन राकेश, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, धर्मवीर भारती, भीष्म साहनी सभी के नाटक की प्रस्तुतियाँ निरंतर सर्जनात्मक बनती चली जाती हैं और निर्देशक मूल टेक्स्ट में हर बार नया टेक्स्ट रचता है। नाटक के भीतर की शक्ति उसका लचीलापन और उसकी सर्जनात्मकता है । नाटक का रंगमंच कह लीजिए या रंगमंच का नाटक, वास्तव में नाटक में कोई सुनिश्चित टेक्स्ट की परिकल्पना नहीं है और यह नए चिंतन की सबसे बड़ी देंन है। नाटक और रंगमंच एक–दूसरे के भीतर ऐसे रचे–बसे और गूँथे हुए कि उनको विलग करके देखना असंभव–सा प्रतीत होता है।

रंगमंच पिछले दस – पंद्रह सालों में कई क्षेत्रों से जुड़ गया है। आज युवा रंगकर्मी के समक्ष रंगमंच और साहित्य, रंगमंच और चित्रकला, रंगमंच और नृत्य, रंगमंच और फ़िल्म जैसे असंख्य क्षेत्रों की विरासत उपलब्ध है। कई क्षेत्रों की आपसी आवाजाही ने रंगमंच को एक विशाल फ़लक प्रदान किया है। आज रंगकर्मी प्रयोग काल से गुजर रहा है चाहे वह हिंदी रंगमंच के अभिलाष पिल्लै हों या अजय कुमार, विजय कुमार, आसिफ़ अली या फिर मुंबई, गुजरात, पंजाब, असम के रंगकर्मी । उपर्युक्त रंगकर्मियों की बात की जाए तो अजय कुमार एक ऐसे रंगकर्मी हैं जिन्होंने 'वाचिक' शीर्षक से भारतेन्दु से लेकर आज की हिंदी कविता तक का एक मंचीय कोलाज प्रस्तुत किया था। कभी गायन, कभी वाचन और कभी थोड़े बहुत अभिनय के साथ एक स्वरूप देने की कोशिश की है। कहानी के रंगमंच के समानान्तर ही कविता के रंगमंच को रचने का प्रयोग आपने बखूबी किया है। निराला की 'राम की शक्तिपूजा' जैसी कविताओं की मंच प्रस्तुति रंगमंच को एक विशाल संसार में प्रवेश देती है, वहीं नाटक के लिए रंगमंच को अभी विकास की और बुलन्दियों को छूना शेष है।

## संदर्भ – सूची

१ काव्यकला एवं अन्य निबंध , जयशंकर प्रसाद पृ॰ १०३ , ११०

२ नाट्यकला मीमांसा , पृ॰ ३१

३ नटरंग , अंक ७७ संपादक– अशोक वाजपेयी, रश्मि वाजपेयी, पृ॰३१–३२